3

स्कूल का समाजशास्त्र

उषा शर्मा*

"तेरी बेटी को हम नहीं पढ़ा सकते। इसे तो पढ़ना ही नहीं है।", बड़ी मैडम ने चिढ़चिढ़े स्वर में कहा।

"मैडम, मैं तो इसे अपनी क्लास में नहीं बिठाऊँगी। बस, अब बहुत हो गया।", कक्षा-अध्यापिका ने तल्खी भरे स्वर में कहा।

"नहीं मैडम, ऐसा मत कीजिए। हम गरीब लोग हैं। ये पढ़ेगी! पढ़ेगी ना! आप साहब लोग इसे क्लास में बैठने दीजिए। ये फिर ऐसा नहीं करेगी।" साक्षी की माँ ने कातर भरे स्वर में कहा।

एक सरकारी स्कूल में मेरा यह पहला दिन था और स्कूल में पहले दिन की यह घटना मुझे अंदर तक झकझोर गई। कौन है यह साक्षी? कौन हैं ये माँ? क्या करती हैं ये? ये सवाल अंदर ही अंदर मुझे बेचैन किए जा रहे थे। अभी मैं इन सवालों के जवाब ढूँढ ही रही थी कि तभी मुझे तपाक! की आवाज़ आई। माँ ने अपनी बेटी साक्षी को ज़ोर का थप्पड़ रसीद कर दिया। साक्षी अनपेक्षित रो नहीं रही थी।

"मैंने कुछ नहीं किया। ये लोग मुझे मारते हैं।", साक्षी ने ठिठाई से कहा और हाथ छुड़ाकर भागने लगी।

"देख, अब पता चला! हम कह रहे हैं कि ये इसी तरह परेशान करती है। क्लास से भाग जाती है। लड़की जात है और हमारे स्कूल में कंस्ट्रक्शन भी चल रहा है। कहाँ तक ध्यान रखें? भगवान न करे कुछ हो गया तो?" बड़ी मैडम ने उलाहना भरे स्वर में कहा।

"मेरी क्लास में 35-40 बच्चे हैं। इसे ही देखती रहूँगी तो बाकी बच्चों पर कैसे ध्यान दूँगी? केवल यही तो नहीं है ना! कल यह सारा दिन कहाँ रही, मुझे पता ही नहीं। मैंने अपनी क्लास छोड़ी, सिर्फ़ इसके लिए। ऊपर-नीचे पूरा स्कूल छान मारा, नहीं मिली यह। बाद में देखा तो सामने गेट से आ रही है।" कक्षा-अध्यापिका ने अपनी बात रखी जिसमें उनकी परेशानी साफ़ झलक रही थी।

"मैडम जी, देखिए, मैं घरों में काम करती हूँ और रोज़-रोज़ स्कूल नहीं आ सकती। वहाँ भी काम और पैसे का हर्ज़ा होता है। आप मेहरबानी करके इसे अपनी क्लास में बैठा लीजिए।", माँ ने अपनी दुविधा सामने रखी।

माँ के साथ एक छोटी बच्ची और भी थी जो इस पूरे घटनाक्रम से सहम गई थी और मैं भी, क्योंकि

* *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, प्रारंभिक शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली-110016

मैं उस बच्ची में, साक्षी में स्वयं को और उनकी माँ में अपनी माँ को देखने लगी थी। मुझे बहुत बेबसी नज़र आ रही थी। छोटी बच्ची अपनी माँ के आँचल में छिपी ही जा रही थी। इस बच्ची का नाम गायत्री था। मुझे तो उस बच्ची को देखकर दुख हो रहा था कि जब यह बच्ची स्कूल जाने लायक होगी तो क्या यह स्कूल आना पसंद करेगी? शायद नहीं! तो उसके स्कूल *ना जाने* की नींव पड़ी ही समझो!

माँ ने साक्षी को सबके सामने खूब तो डाँटा और मारा भी और छोटी बेटी को लेकर स्कूल से बाहर जाने लगीं तो साक्षी ज़िद करने लगी कि मैं भी साथ जाऊँगी। यहाँ नहीं रहूँगी। ये लोग मारते हैं। तुझे नहीं पता! मैं नहीं....।

''मैं क्या मारती हूँ तुझे? देखो मैडम कितना झूठ बोलती है यह। मैं तो नहीं रखूँगी इसे अपनी क्लास में। क्या पता कल कोई और इलज़ाम लगा दे? ना बाबा ना!''-कक्षा-अध्यापिका का पारा सातवें आसमान पर था।

सारी बातचीत में माँ, साक्षी और वह छोटी बच्ची कठघरे में एक मुल्ज़िम की तरह खड़ी थीं। बड़ी मैडम एक न्यायाधीश की तरह कुर्सी पर विराजमान थीं। कई कुर्सियाँ खाली थीं जो *किसी के बैठने की प्रतीक्षा में थीं।* खैर, सारा मामला अभी निपटने की सूरत में नहीं था। साक्षी, माँ, बड़ी मैडम और कक्षा-अध्यापिका – सभी अपनी-अपनी जगह 'डटे' हुए थे। मेरा सब्र खत्म हो रहा था। मैंने कहा कि साक्षी को मैं अपनी पहली क्लास में ले जाती हूँ, जिस क्लास में मुझे 'पढ़ाना' है।

''देख लीजिए मैडम, आपकी ज़िम्मेदारी होगी।'' – बड़ी मैडम ने कहा।

''ठीक है, मेरी ज़िम्मेदारी होगी। आप निश्चिंत रहिए।'' – मैंने कहा।

मैं साक्षी को प्यार से अपनी क्लास में ले गई। मैं मन ही मन डर भी रही थी कि पता नहीं साक्षी मेरे साथ जाएगी भी कि नहीं। लेकिन वह मेरे साथ थी। उसे मैंने अपना बस्ता पहली कक्षा में लाने के लिए कहा। वह गई और थोड़ी देर बाद वापस आ गई। तब तक पहली कक्षा के बच्चों और उनकी शिक्षिका से मेरा परिचय हो चुका था। पहली कक्षा के बच्चों ने मुझे उतनी उत्सुकता से नहीं देखा जितनी उत्सुकता से वे साक्षी को देख रहे थे। चौथी कक्षा में पढ़ने वाली बच्ची पहली कक्षा में क्या कर रही है? मैंने सबको बताया कि साक्षी आज से हमारी कक्षा में पढ़ेगी और हमारे साथ रहेगी। आज पहले दिन सारे बच्चे ड्राइंग कर रहे थे, साक्षी को भी अपने मन का काम करने के लिए कहा। थोड़ी ना-नुकुर करने के बाद साक्षी काम करने लगी। कुछ दिनों में साक्षी सबके साथ हिल-मिल गई, और बच्चे भी उसे किसी 'खास' नज़र से नहीं देखते थे। साक्षी चौथी कक्षा में होने के बावजूद पढ़-लिख नहीं सकती थी। लेकिन धीरे-धीरे उसके चेहरे पर उदासी और कठोरता की जगह हल्की मुस्कान और सहज भाव नज़र आने लगा।

इस पूरे घटनाक्रम पर गौर करें तो पाएँगे कि स्कूल के भीतर एक खास तरह का समाजशास्त्र काम करता है। समाजशास्त्र दरअसल समाज के सदस्यों के आपसी संबंधों का शास्त्र है जो यह बताता है कि समाज के सदस्यों के बीच किस तरह का रिश्ता है, ये सदस्य आपस में किस प्रकार एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। सदस्यों के व्यवहार से किस प्रकार अन्य

चीज़ें प्रभावित होती हैं और वे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से क्या संदेश देती हैं या किस तरह की सोच का समर्थन करती हैं। हालाँकि समाजशास्त्र का दायरा इससे भी कहीं अधिक है लेकिन यहाँ फिलहाल इन्हीं मुद्दों पर चर्चा करेंगे और स्कूल के समाजशास्त्र को समझने की कोशिश करेंगे।

अकसर आपने देखा होगा कि सामाजिक संरचना के जिस पायदान पर आप खड़े हैं उसी के अनुसार आपके साथ 'अदबी' और बहुधा 'बेअदबी' का व्यवहार होता है। हमारी पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें और हमारे 'भाषण' भी समानता की चर्चा करते हैं, मूल्यों की चर्चा करते हैं, सद्भाव की चर्चा करते हैं लेकिन स्कूली समाजशास्त्र के (अन्य का भी) यथार्थ में ये सभी नदारद हैं। कैसे? तो इसके जवाब के लिए इन सवालों पर गौर करते हैं –

- क्या घरों में काम करने वाली माँ को आदर, सम्मान नहीं दिया जाना चाहिए?
- क्या उन्हें कुर्सी पर बैठकर आराम से अपनी बात रखने के लिए नहीं कहना चाहिए था?
- क्या एक तीन साल की बच्ची गायत्री को भी सम्मान और विशेष ध्यान की आवश्यकता नहीं है?
- क्या माँ के संदर्भ में 'तेरी' जैसे असम्मानजनक शब्द का प्रयोग गलत नहीं है?
- गायत्री के मन पर स्कूल की कौन-सी छवि बनी होगी?
- साक्षी और साक्षी जैसे कई बच्चे जो स्कूल की किन्हीं व्यवस्थाओं या सीमाओं से पीड़ित हैं – क्या उन्हें सिर्फ़ इसलिए सम्मानजनक शब्दों से संबोधित करना व्यर्थ लगता है कि वे किन्हीं समस्याओं से ग्रस्त हैं?
- क्या हमारे शिक्षक इतने सक्षम हैं कि वे अपने व्यवहार और कुशलताओं से बच्चों के मन को जान सकें, उन्हें पढ़ सकें?
- क्या सिर्फ़ बड़े ही सम्मान के हकदार हैं, बच्चे नहीं?

इतना ही नहीं जब स्कूल के अन्य बच्चों ने भी इस प्रकरण को देखा-सुना होगा तो उनके मन में कौन-से समाजशास्त्र का निर्माण हुआ होगा? क्या वे साक्षी को स्वीकार कर पाएँगे? शायद नहीं! बच्चों का मन बहुत कोमल होता है, उनकी भी अपनी संवेदनाएँ होती हैं और उनकी भी अपनी विश्लेषण क्षमता होती है और अपना विवेक भी। स्कूल में और बच्चों के साथ काम करते-करते इतना तो आभास हो ही जाता है कि बच्चे 'कोरे' नहीं होते। और हम बच्चों को 'बच्चा' समझने की भूल करते हैं। यह भूल अनेक बार बहुत भारी पड़ जाती है और उनके कोमल मन को ठेस पहुँचा जाती है।

ऐसा ही वाकया मेरी कक्षा में हुआ। एक दिन लक्ष्मी खाना नहीं लाई थी। वैसे तो सरकारी स्कूलों के आठवीं कक्षा तक के बच्चों को मिड-डे मील मिलता ही है लेकिन मेरी कक्षा के कुछ बच्चे (अन्य कक्षाओं के भी हो सकते हैं) मिड-डे मील में बँटने वाला भोजन नहीं लेते थे। खासतौर से उस घटना के बाद से जब एक राज्य के कुछ बच्चों की मिड-डे मील खाने के बाद तबीयत खराब हो गई थी। मुझे उस पहली कक्षा की अध्यापिका ने समझाया था कि मैडम, इन बच्चों को

ये खाना खाने के लिए *फ़ोर्स* मत किया करो। बहुत से पेरेंट्स बच्चों को स्कूल का खाना खाने से मना करते हैं। मैंने यह बात 'समझ' ली थी। आधी छुट्टी की घंटी में लक्ष्मी डेस्क पर दोनों हाथों के बीच अपना चेहरा टिकाए चुपचाप बैठी थी। मैंने पूछा –''लक्ष्मी, खाना नहीं खाओगी क्या?''

''नहीं।'' - उसकी आँखों में अजीब-सा भाव था।

''क्यों? खाना नहीं लाईं क्या?''

''नहीं।''

''यहाँ से ले लो।''

''नहीं।''

''क्यों?''

''मुझे भूख नहीं है।''

''अच्छा तो यह लो सेब! मैं तुम्हारे लिए लाई हूँ।''

''नहीं।'' उसने सिर हिलाते हुए मना कर दिया।

फिर भी मैंने कोशिश की और उसके हाथ में सेब थमा दिया और कहा कि जब भूख लगे तब खा लेना या घर जाकर खा लेना। लेकिन लक्ष्मी ने बड़े ही अनमने भाव से सेब ले तो लिया, पर खाया नहीं। मुझे उलझन हो रही थी कि लक्ष्मी सेब क्यों नहीं खा रही। तभी उसकी अध्यापिका आईं। मैंने उनसे कहा कि आप लक्ष्मी से कहिए वो सेब खा ले, क्योंकि वह खाना नहीं लाई।

''ले क्यों नहीं लेती? ज़्यादा ही नखरे आ रहे हैं? आप छोड़ो मैडम इनको! नहीं खाते तो हम क्या करें?'' कक्षा अध्यापिका ने भी हथियार डाल दिए।

बाद में उसकी सहपाठी ज्योति से पता चला कि कल रात उसकी मम्मी को उसके पापा ने मारा था इसलिए आज सुबह उसकी मम्मी ने खाना नहीं बनाया।

लक्ष्मी द्वारा सेब स्वीकार न करना मुझे उसकी खुद्दारी का द्योतक लगा और मैंने यह स्वीकार भी किया। छुट्टी के समय जब लक्ष्मी की मम्मी उसे लेने आईं तो मुझे उनसे कुछ भी कहते ना बना। आखिर कहती भी क्या?

यह घटना वास्तव में कोई सामान्य घटना नहीं है और ना ही ऐसी घटना है जो सुनकर भुला दी जाए। शायद किसी को भी ऐसा नहीं लगेगा कि लक्ष्मी के पास संवेदनाएँ नहीं हैं। वह बेहद संवेदनशील है और इस घटना विशेष के कारण उसका किसी चीज़ को न लेना बनता है। यदि कोई और सामान्य दिन होता तो लक्ष्मी चीज़ ले लेती। लक्ष्मी के प्रति अध्यापिका का व्यवहार यह दर्शाता है कि हम बच्चों की संवेदनाओं, उनके सुख-दुख से कोसों दूर हैं। क्या इसे शिक्षित होना कहेंगे? ज़रा सोचिए!

एक और घटना याद आती है। इत्तेफ़ाक से वह भी लक्ष्मी से जुड़ी है। इकरा अकसर अपना टिफ़िन मुझसे खुलवाती है। उसने हर दिन की तरह मुझसे टिफ़िन खोलने के लिए कहा। तो लक्ष्मी ने तपाक् से कहा – "मैडम क्या तुम्हारी नौकर लगी है?" मैंने लक्ष्मी से ऐसा कहने के लिए मना किया।

"देखो ना, सब आपसे अपना टिफ़िन खुलवाने आते हैं, पानी की बोतल खुलवाने आते हैं।"

"तो क्या हो गया! और यह नौकर क्या होता है?" – मैंने पूछा।

"जो दूसरों का काम करता है।" - लक्ष्मी ने कहा।

"दूसरों का काम करना कोई गलत बात तो नहीं! हमें तो दूसरों की मदद ही करनी चाहिए। जैसे आप सभी बच्चे इस रीडिंग कॉर्नर पर किताबें रखने, उन्हें रस्सी पर टाँगने और फिर अलमारी में किताबें वापस रखने में कितनी मदद करते हैं। तो क्या यह गलत है? अगर आप मेरी मदद नहीं करेंगे तो मुझे यह काम करने में बहुत समय लगेगा।"

लक्ष्मी सहित अनेक बच्चे अपना-अपना तर्क देने लगे कि उनके द्वारा मेरे लिए काम करना कितना सही है और मेरे द्वारा उनका काम करना कितना गलत है। लेकिन मेरे पास 'नौकर' की सफ़ाई में कोई तर्क नहीं था। बच्चों द्वारा इस्तेमाल किए गए शब्द इस ओर साफ़ इशारा करते हैं कि किस प्रकार स्कूल का वातावरण उनकी अवधारणाओं को 'बनाता' और 'बिगाड़ता' है। 'नौकर' शब्द भी इसी की देन है।

एक नहीं, ऐसी अनेक घटनाएँ स्कूल में घटती हैं जब बच्चे यह मानने को अभिशप्त हैं कि स्कूल और कक्षा की सफ़ाई कोई नैतिक ज़िम्मेदारी नहीं बल्कि उनकी 'नियति' है। तभी वे शिक्षक द्वारा इस तरह का कोई काम किए जाने को पचा नहीं पाते। इतना ही नहीं, पहली कक्षा की काजल को उसकी अध्यापिका द्वारा हमेशा एक ही काम दिया जाता था और वह था – स्कूल लगने पर कूड़ेदान को कक्षा में रखना और पूरी छुट्टी होने पर उसे वापस रखना। सवाल उठता है क्यों? जब मैंने भी 'क्यों' का जवाब जानना चाहा तो उसकी अध्यापिका ने कहा कि इसका (काजल) पढ़ाई में दिमाग नहीं चलता। इसका तो बस इसी तरह के कामों में दिमाग लगता है। यही काम इसके लिए ठीक है। मैं हैरान रह गई उनकी इस सोच पर! मुझे और हैरानी तो तब हुई जब कक्षा के बाकी बच्चों ने भी लगभग यही जवाब दिया। इसका मतलब था कि शिक्षिका जो समाज की एक ज़िम्मेदार सदस्य हैं, की सोच उनकी कक्षा के बाकी बच्चों को प्रभावित करती है। बाकी बच्चे काजल को हिकारत भरी नज़रों से देखते थे और उससे ठीक से बात भी नहीं करते थे। स्कूल के इस समाजशास्त्र की क्या व्याख्या हो सकती है? यही कि बच्चे जो देखते हैं, वही करते हैं। बड़ों द्वारा जिस प्रकार का व्यवहार दूसरों के साथ किया जाता है वही व्यवहार बच्चे भी, जो अवलोकनकर्ता हैं – वैसा ही व्यवहार करने को सही मानते हैं, क्योंकि उनकी शिक्षिका कभी गलत तो हो ही नहीं सकती। वह हमेशा उनके लिए आदर्श रूप है। भले ही शिक्षिका द्वारा किसी बच्चे को भरी कक्षा के सामने अपमानित किया जाए, उन्हें कक्षा की ड्योढ़ी पर बस्ते समेत बैठाया जाए और भोजन के समय भी उससे काम कराया जाए, सबके सामने उनके माता-पिता को या उन्हें धिक्कारा जाए, उनकी गरीबी को अपमानित करने का हथियार बनाया जाए! आखिर हम बच्चों को क्या शिक्षा दे रहे हैं?

आइए, इन्हीं घटनाओं के कुछ और गहरे बिंदुओं को समझने का प्रयास करते हैं।

साक्षी, लक्ष्मी, काजल या ऐसे और भी बच्चे स्वयं के प्रति नकारात्मक स्व-अवधारणा बनाने के लिए मजबूर हैं। उन्हें लगता है कि सम्मान, स्नेह या अपनत्व जैसे शब्द उनके लिए नहीं हैं या वे इन शब्दों के लिए नहीं बने। सरकारी प्राथमिक स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों के अधिकांश माता-पिता ऐसे हैं

जो या तो दूसरों के घरों में काम करते हैं, ठेला लगाते हैं, सब्ज़ी-फल बेचते हैं, दिहाड़ी मज़दूरी करते हैं या फिर रिक्शा आदि चलाते हैं। जब वे अपने बच्चों के स्कूल जाते हैं और उन्हें बैठने के लिए भी न कहा जाए जबकि हमारे पास बैठने के साधन उपलब्ध हैं तो लगता है कि शारीरिक श्रम करने वालों की कोई अहमियत है ही नहीं। ये सब बेकार की बातें हैं जो अकसर उपदेशात्मक होती हैं कि *हमारे कामगार हमारे दोस्त*! मेरे पिता या मेरी माँ या भाई-बहन को कोई सम्मान मिलता ही नहीं! हम 'बड़े' ऐसे व्यक्तियों के प्रति बेहद नकारात्मक हो जाते हैं। यही नकारात्मकता बच्चों के भीतर भी पनपने लगती है। वे भी उन बच्चों से अच्छा व्यवहार नहीं कर पाते जिन्हें वे अपने से भी कमतर पाते हैं। कक्षा के बच्चों के आपसी रिश्तों में बड़ों की नकारात्मक सोच का कीड़ा लग जाता है और अंदर ही अंदर बहुत कुछ खोखला करने लगता है। फिर हम पाठ पढ़ाते हैं – समानता का, बराबरी का, मूल्यों का, जबकि ये सब तो स्वयं उनकी कक्षा में दम तोड़ने लगते हैं।

आखिर स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों के माता-पिता भी उतने ही सम्मान के हक़दार हैं जितने हम स्वयं को मानते हैं। वे भी मेहनती हैं, वे भी काम करके अपनी रोज़ी-रोटी का जुगाड़ करते हैं। फिर उनका काम हमारे काम से, उनकी मेहनत हमारी मेहनत से कमतर कैसे हो सकती है? मुझे लगता है कि सामाजिक संबंधों की समझ किताबों से कम और सामाजिक व्यवहार से अधिक आती है। स्कूली समाजशास्त्र का यह स्वरूप देखकर यह कहने में भी मुझे बिल्कुल भी संकोच नहीं होता कि किताबें बहुत कुछ झूठ बोलती हैं! और झूठ बोलते हैं .....!

❑❑❑